शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील 卐

मई : १९६१ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, बैशाख, वीर नि०सं० २४८७ ☆ अंक : १

एक बार तो उल्लसित हो!

हे जीव! एक बार तो उल्लास प्रगट कर कि 'अहो! ऐसा है मेरा आत्मा!!... कैसा है?—तो कहते हैं सिद्ध भगवान जैसा। मेरे आत्मा में सिद्ध भगवान के समान परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द की शक्ति विद्यमान है; मेरे आत्मा की शक्ति का हनन नहीं हो गया है। अरे रे! मैं दब गया, विकारी हो गया, अब मेरा क्या होगा?'—इसप्रकार भयभीत न हो, हताश न हो, चिंता न कर! एकबार स्वभाव का उल्लास ला.... उत्साह प्रगट कर.... उसकी महिमापूर्वक अपने पुरुषार्थ को उछाल.... तो तुझे अपने अपूर्व आह्लाद का अनुभव होगा.... तू सिद्धपद को प्राप्त कर लेगा।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[१९३]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

जिननाथ के मार्ग पर....

हे जिननाथ! सद्ज्ञानरूपी नौका में आरोहण करके, भव-सागर से पार होकर तू शीघ्रता से शाश्वतपुरी में पहुँच गया है। अब मैं जिननाथ के उस मार्ग से (जिस मार्ग से जिननाथ गये, उसी मार्ग से) उसी शाश्वतपुरी में जाता हूँ; (क्योंकि) इस लोक में उत्तम पुरुषों को (उस मार्ग के अतिरिक्त) अन्य कौन शरण है ?

(—नियमसार, कलश-२७४)

★

नया प्रकाशन

जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला भाग तीसरा

सेठी ग्रंथमाला से यह दूसरी आवृत्ति है। प्रश्नोत्तरमाला भाग १-२-३ प्रायः बहुत जगह पाठशाला में चलती है; प्रथम भाग तीसरी आवृत्ति है, सभी जिज्ञासुओं के लिये अति उपयोगी है बहुत जगह से माँग चालू है। तीसरा भाग पृ० संख्या १४२ मूल्य ६४ न.पै. पोस्टेज अलग। थोक लेने पर कमीशन देंगे। प्रथम भाग पृ०सं० १२४, दूसरा भाग पृ० १३७, मूल्य ६० नये पैसे।

छहढाला (सस्ते में)

यह ग्रंथ हिन्दी में बहुत बार छप चुका है, रोचक ढंग से आत्महित का स्वरूप और गागर में सागर के समान जैनतत्त्वज्ञान इतना सुगम शैली से भरा है कि वर्तमान समाज में सब जगह जिज्ञासुओं को देख देखकर बांटने लायक है। ऐसी टीका आज तक पहले कभी नहीं छपी थी। पृ० सं० १६१ मूल्य ८१ नये पैसे। थोक लेने पर कमीशन देंगे।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील 卐

मई : १९६१ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, बैशाख, वीर नि०सं० २४८७ ☆ अंक : १

सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के ७२ वें जन्मोत्सव पर

स्वयंभू आत्मा की मंगल माला

(ब्रह्मचारी हरिलालजी जैन)

सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी

वैशाख शुक्ला दूज.... आज गुरुदेव का पावन जन्म दिवस है... गुरुदेव ने भव्य जीवों पर महान उपकार किया है। जिस महापुरुष के प्रताप से भवभ्रमण से छूटने का मार्ग मिला हो, उस महात्मा के जन्मोत्सव पर भक्तों के हृदय में भक्ति की विशेष ऊर्मियाँ जागृत होना स्वाभाविक ही है। उन ऊर्मियों को व्यक्त करने का विचार आया तो सोचा कि गुरुदेव के जन्मोत्सव पर कोई ऐसी वस्तु अर्पण करना चाहिये जो उन्हें प्रिय हो। आत्मा का 'स्वयंभू' पना गुरुदेव को अत्यन्त प्रिय है; वे बारम्बार उसका स्मरण करते हैं। इसलिये 'स्वयंभू' की महिमा सम्बन्धी जो पुष्प उनके मुखारविंद से समय-समय पर प्रगट हुए हैं, उन्हीं में से ७१ पुष्पों की यह मंगल-माला गूँथकर गुरुदेव को अर्पित कर रहा हूँ।

१- आत्मा 'स्वयंभू' है क्योंकि अन्य कारकों की अपेक्षा बिना, स्वयमेव छह कारकरूप होकर, स्वयं ही सर्वज्ञ होता है।

२- शुद्धोपयोग द्वारा शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति होती है, वह अन्य कारकों से निरपेक्ष है।

३- शुद्धोपयोग से आत्मा अपने ही आश्रय से केवलज्ञान प्राप्त करता है, इसलिये वह अत्यन्त स्वाधीन है।

४- हे जीव! अपने स्वभाव का आश्रय करके उसी को अपनी सर्वज्ञता का साधन बना, बाह्य साधन मत ढूँढ़।

५- जिसप्रकार सर्वज्ञ हुआ आत्मा 'स्वयंभू' है, उसीप्रकार सम्यग्दर्शनादि में भी आत्मा स्वयंभू है।

६- शुद्धोपयोग की भावना के प्रभाव से आत्मा सर्वज्ञ होता है, यह शुद्धोपयोग आत्मा के ही आधीन है।

७- उपयोग को अंतरोन्मुख करना ही आत्मप्राप्ति का उपाय है।

८- स्वयंभू आत्मा को जो सिद्धदशा हुई सो हुई; उसका फिर कभी अभाव नहीं होता।

९- स्वयंभू आत्मा की संसारदशा गई सो गई; अब फिर कभी संसार नहीं होगा।

१०- शुद्धोपयोग के प्रसाद से हुई ऐसी शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति प्रशंसनीय है।

११- अन्य किसी कर्ता की अपेक्षा बिना, आत्मा स्वयं ही कर्ता होकर स्वयं सर्वज्ञ हुआ है, इसलिये वह 'स्वयंभू' है।

१२- अन्य किसी कार्य की अपेक्षा बिना, आत्मा स्वयं ही सर्वज्ञतारूप कार्य में परिणत हुआ, इसलिये वह 'स्वयंभू' है।

१३- अन्य किसी साधन (करण) की अपेक्षा बिना, आत्मा स्वयं ही करण (साधन) होकर सर्वज्ञ हुआ है, इसलिये वह 'स्वयंभू' है।

१४- अन्य किसी सम्प्रदान की अपेक्षा बिना, आत्मा स्वयं ही सम्प्रदान होकर सर्वज्ञ हुआ है, इसलिये वह 'स्वयंभू' है।

१५- अन्य किसी अपादान की अपेक्षा बिना, आत्मा स्वयं ही अपादान होकर सर्वज्ञ हुआ है, इसलिये वह 'स्वयंभू' है।

१६- अन्य किसी आधार की अपेक्षा बिना, आत्मा अपने स्वभाव के आधार से ही सर्वज्ञ हुआ है, इसलिये वह 'स्वयंभू' है।

१७- हे जीव! सर्वज्ञ होने की सामग्री (छहों कारक) तेरे स्वभाव में ही हैं, इसलिये बाह्य सामग्री ढूँढ़ने की आकुलता छोड़.... और स्वभाव में उपयोग को लगाकर उसी को साधन बना।

१८- राग में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह आत्मा की सर्वज्ञता अथवा सम्यक्त्वादि का साधन हो सके।

१९- अपने स्वभाव को साधन के लिये आत्मा को यदि पर की या राग की अपेक्षा लेना पड़े तो वह 'स्वयंभू' नहीं किन्तु पराधीन हुआ; पराधीनता में सुख कैसे हो सकता है ?

२०- सुख उसे कहते हैं, जिसमें स्वाधीनता हो; जिसमें दूसरे की अपेक्षारूप पराधीनता न हो।

२१- शुद्धोपयोग के प्रभाव से स्वयंभू हुए सर्वज्ञ आत्मा को इन्द्रियों के बिना ही परिपूर्ण ज्ञान तथा आनन्द होता है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव ही ज्ञान और आनन्द है।

२२- स्वभाव को पर की अपेक्षा नहीं होती, इसलिये स्वयमेव परिपूर्ण ज्ञान और आनन्दरूप परिणमित स्वयंभू आत्मा को अपने ज्ञान के लिये इन्द्रियविषयों की अपेक्षा नहीं है।

२३- जिसप्रकार सर्वज्ञ हुए आत्मा का ज्ञान या सुख इन्द्रियविषयों में से नहीं आता, उसीप्रकार जगत के किसी भी आत्मा का ज्ञान या सुख इन्द्रियविषयों में से नहीं आता।

२४- धर्मी जानता है कि—ज्ञानस्वभावोहं.... आनन्दस्वभावोहं।

२५- अन्य किन्हीं भी कारकों की अपेक्षा बिना, शुद्धोपयोग के प्रसाद से स्वयमेव छह

कारकरूप होकर जो केवलज्ञानरूप से तथा अतीन्द्रिय परमानन्दरूप से प्रगट हुआ, ऐसे 'स्वयंभू' आत्मा की प्रशंसा करके श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव केवलज्ञानरूपी सुप्रभात के गीत गाते हैं, उसका बहुमान करते हैं।

२६- अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्दरूपी जो मंगल सुप्रभात उदित हुआ, वह प्रशंसनीय है, वह आदरणीय है, वह मंगल प्रभात सदा जयवंत रहेगा।

२७- आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव की प्रतीति करना, वह भी सम्यक्त्वरूपी मंगल प्रभात है, वह भी आनन्दरूप है।

२८- अहा! इन्द्रियों तथा राग के बिना ही ज्ञान और आनन्द होते हैं—यह बात स्वभावोन्मुख हुए बिना नहीं जम सकती।

२९- अनादि से अज्ञानी जीवों को देहबुद्धि के कारण इन्द्रियविषयों में ही सुख की कल्पना है, अतीन्द्रिय आत्मसुख का लक्ष भी नहीं है; इसलिये 'स्वयंभू' आत्मा के ज्ञान और सुख की बात सुनने पर उसे प्रश्न उठता है कि—इन्द्रियों के बिना ही ज्ञान और सुख किसप्रकार होता है? रूप-रस-गंध आदि किसी भी पदार्थ के बिना ही ज्ञान और सुख कैसे हो सकता है?

३०- आचार्यदेव परम करुणापूर्वक समझातग हैं कि भाई, इन्द्रियविषयों में तुझे जिस सुख की कल्पना है, वह मिथ्या है, उनमें सुख नहीं है; इन्द्रियविषयों के ओर की आकुलता तो दुःख ही है। इसीप्रकार इन्द्रियों के अवलम्बन में अटकने से ज्ञान का विकास रुकता है।

३१- **भाई! एक बार तू भेदविज्ञान द्वारा इन्द्रियों से भिन्न होकर अपने अतीन्द्रिय आत्मा को लक्ष में तो ले; इन्द्रियों के बिना ही ज्ञान और सुख किस प्रकार होता है, उसका विश्वास तुझे अपने स्वभाव के अवलम्बन से ही हो जायेगा। फिर 'स्वयंभू' ऐसे सर्वज्ञ के ज्ञान और सुख का निर्णय भी तुझे हो जायेगा।**

३२- इन्द्रियविषयों में तथा राग में ही सुख की कल्पना करके जो उसमें लीनतारूप वर्तन करे, उसे अतीन्द्रिय आत्मा के सुख का निर्णय कहाँ से होगा?

३३- राग के एक विकल्प को भी जीव सुख का या ज्ञान का साधन मानता है, वह इन्द्रियविषयों में ही सुख मानता है; आत्मा के 'स्वयंभू' स्वभाव को वह नहीं मानता।

३४- **राग को साधन माना, तो जहाँ राग नहीं, वहाँ सुख नहीं—ऐसा उसकी मान्यता में**

आया; इसलिये रागरहित अतीन्द्रिय वीतरागी सुख की उसे श्रद्धा नहीं हुई। जब अतीन्द्रिय सुख की श्रद्धा भी न हो, तब उसका उपाय कहाँ से करेगा ?

३५- 'अहा, शुद्धोपयोग ही मेरे ज्ञान और आनन्द का उपाय है!'—ऐसा निर्णय करते ही जीव की परिणति अंतरोन्मुख हो जाती है और बाह्य में उछल-कूद अटक जाती है।

३६-शुद्धोपयोग का अर्थ क्या ? शुद्ध आत्मस्वभाव में उपयोग की एकाग्रता, वह शुद्धोपयोग है; उसे राग का या विकल्प का अवलम्बन नहीं है।

३७- आत्मदशा का अपूर्व 'परिवर्तन' कैसे होता है ? ज्ञान और राग का भेदज्ञान करने से अनादिकालीन अज्ञान का नाश होकर अपूर्व सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, वही अपूर्व परिवर्तन है।

३८- चैतन्य का भान करके फिर जो मुनि हुए और अतीन्द्रिय रस के अनुभव से जिन्होंने जीवन बिता दिया—ऐसे महान संत का यह कथन है।

३९- यह बात किसे समझाते हैं ?—कि जो तृषातुर है, जिसे आत्मरस का पान करना है; जो अनादिकालीन अज्ञानदशा को बदलकर ज्ञानदशा प्रगट करना चाहता है तथा उसका उपाय विनय से पूछता है, ऐसे शिष्य को आचार्यदेव भेदज्ञान की यह बात समझाते हैं।

४०- भाई, तेरा 'स्वयंभू' आत्मा रागादि परभावों से अत्यन्त निरपेक्ष है; राग की अपेक्षा बिना वह स्वयं आनन्दरूप होता है।

४१- 'विद्वान' किसे कहा जाता है ?—कि जो भेदज्ञानयुक्त हो; स्वयंभू आत्मा को राग से भिन्न जानकर जो भेदज्ञान करे, वही सच्चा विद्वान है।

४२- आत्मा का अस्तित्व जो पर के कारण मानता है, वह जीव 'स्वयंभू' आत्मा को नहीं जानता, इसलिये अज्ञानी है, मूढ़ है।

४३- जिसप्रकार शुद्धोपयोग द्वारा केवलज्ञान और पूर्ण आनन्द साधने के लिये किसी विकल्प का या बाह्य पदार्थ का अवलम्बन नहीं है, उसीप्रकार केवलज्ञान होने के बाद भी उस आत्मा को अपने पूर्ण ज्ञान या आनन्द के लिये किसी विकल्प का या पर का अवलम्बन नहीं है। पर के या विकल्प के अवलम्बन बिना—स्वयमेव ही वह आत्मा पूर्ण ज्ञान और आनन्दयप से परिणमित होता है, इसलिये वह 'स्वयंभू' है।

४४- जो स्वयं अपने से ही ज्ञानस्वरूप हो, उसे अपने ज्ञान के लिये दूसरे की अपेक्षा क्यों होगी ? तथा जो स्वयं अपने से ही सुखस्वरूप हो, उसे अपने सुख के लिये दूसरे की आधीनता क्यों

होगी ?—नहीं हो सकती; इसलिये स्वयमेव ज्ञान और सुखरूप परिणमित होनेवाले 'स्वयंभू' भगवान को इन्द्रियों के बिना ही ज्ञान और सुख होता है।

४५- देखो, यह केवलज्ञान की महिमा! ऐसा केवलज्ञान शुद्धोपयोग के प्रसाद से होता है। किन्तु जो केवलज्ञान को ही नहीं मानता, उसे शुद्धोपयोग का प्रसाद कैसा ?

४६- मैं ज्ञायकस्वभाव हूँ—ऐसी प्रतीति के बिना सर्वज्ञ की प्रतीति कैसी ?—और शुद्धोपयोग कहाँ से ? ज्ञानस्वभावोनमुख हो, उसी को केवलज्ञान की प्रतीति होती है तथा उसी को शुद्धोपयोग का प्रसाद (केवलज्ञान) प्राप्त होता है।

४७- रागरूप शुद्धोपयोग के प्रसाद से केवलज्ञान तो नहीं होता किन्तु केवल-क्लेश होता है। शुभ को प्रसन्न करने जायेगा तो उसकी प्रसादी से संसास क्लेश की प्राप्ति होगी। और शुद्धोपयोग को प्रसन्न करेगा तो उसके प्रसाद से केवलज्ञान प्राप्त करके स्वयंभू परमात्मा हो जायेगा।

४८- जिसप्रकार केवलज्ञान होने में शुद्धोपयोग के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन होने में भी शुद्धात्मा की प्रतीति के अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है; नवतत्त्वों के विकल्प भी सम्यग्दर्शन में कारणभूत नहीं हैं।

४९- केवलज्ञान के लिये शुद्धोपयोग के अतिरिक्त अन्य को (-रागादि को) साधन मानना, वह केवलज्ञान का अनादर है; उसमें शुद्धोपयोग का भी अनादर है, धर्म का अनादर है, मोक्ष का अनादर है और मोक्ष के साधक शुद्धोपयोगी संतों का भी अनादर है।—इसप्रकार उस विपरीत मान्यता में महान अपराध है; जो संसार का कारण है।

५०- शुद्धोपयोग तो केवलज्ञान का राजमार्ग है और शुभराग केवलज्ञान को रोकनेवाला लुटेरा है। राग को धर्म का साधन माने, वह राजमार्ग का अपराधी है; वह 'राजमार्गी' नहीं किन्तु 'रागमार्गी' अर्थात् संसारमार्गी है।

५१- शुद्ध अनंत शक्तिवान ज्ञानरूप परिणमित होने का आत्मा का स्वभाव ही है; फिर दूसरा साधन क्यों होगा ? आत्मा स्वभाव से ही केवलज्ञानरूप हो जाता है, इसलिये वह 'स्वयंभू' है। स्वयं अपने आप छह कारकरूप होकर केवलज्ञानरूप होता है, इसलिये 'स्वयंभू' है।

५२- एक तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव की अद्भुत रचना और उसीपर अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका भरतक्षेत्र में अद्वितीय है। पंचमकाल में अमृत बहाया है।

५३- आत्मा का ज्ञान और सुखस्वभाव तो महामंगल है; उसकी श्रद्धा करने से आत्मा में अपूर्व मंगल प्रभात का उदय होता है। सम्यग्दर्शन तो अपूर्व मंगलप्रभात है।

५४- आत्मा के निरपेक्ष ज्ञान और सुखस्वभाव की जिसने श्रद्धा की, वह पर की ओर के भावों से उदासीन होकर अपने स्वरूप में परिणमित होने लगा। [गृहस्थदशा में भी यह मार्ग शुरु हो सकता है।]

५५- आचार्यदेव स्वयं ऐसी दशा में झूल रहे हैं और केवलज्ञान को साध रहे हैं... उनके आत्मा से निकले हुए यह न्याय है।

५७- इन्द्रियाँ जड़ स्वरूप हैं, उनसे ज्ञान नहीं होता। ज्ञानस्वरूपी आत्मा स्वयं ही, इन्द्रियों से निरपेक्ष ज्ञानरूप परिणमित होकर जानता है।

५८- ज्ञान की भाँति आत्मा का सुखस्वभाव भी इन्द्रियों के आधीन नहीं है; सिद्ध भगवंत अपने स्वभाव से ही सुखरूप परिणमित हो रहे हैं।

५९- आतमा के ऐसे निरपेक्ष ज्ञान और सुखस्वभाव को रुचिपूर्वक... आदरपूर्वक... उल्लासपूर्वक जो स्वीकार करता है, वह जीव आसन्न भव्य है... अल्पकाल में वह स्वयं इन्द्रियों से पार ऐसे ज्ञान और सुखस्वरूप स्वयंभू-परमात्मा हो जायेगा।

६०- अहा, देखो यह स्वभाव के साथ सम्बन्ध जोड़ने की तथा पर के साथ का सम्बन्ध तोड़ने की रीति!—इस रीति से संसार छूटता है और सर्वज्ञता प्राप्त होती है।

६१- आत्मा के ज्ञान-आनन्द स्वभाव की प्रतीति करनेवाला जीव अपने केवलज्ञान को अपने में ही देखता है; केवलज्ञान के लिये दूसरे किन्हीं भी कारकों की अपेक्षा उसकी दृष्टि से टूट जाती है।

६२- केवलज्ञान प्राप्त करने के लिये आत्मा को कहीं बाहर नहीं जाना पड़ता; तथा दूसरों की ओर नहीं देखना पड़ता, अपने से भिन्न अन्य कोई सामग्री नहीं ढूँढ़ना पड़ती; इसलिये बाहर का कोई कारण ही नहीं है। आत्मा अपने में ही रहकर स्वयमेव छह कारकरूप होकर स्वयं केवलज्ञानरूप से प्रगट होता है, इसलिये 'स्वयंभू' है।

६३- देखो, यह आत्म रस! आत्मरसिक होकर ऐसे स्वयंभू आत्मा की भावना करने से अपूर्व आत्मरस के झरने फूटते हैं।

६४- 'स्वयंभू' हुए आत्मा की प्रशंसा करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि अहा! शुद्धोपयोग के सामर्थ्य से घातिकर्मों का क्षय करके 'यह' आत्मा स्वयं ही ज्ञान और सुखरूप से प्रसिद्ध हुआ है।

६५- देखो, आचार्यदेव की अद्भुत शैली! यह... आत्मा ऐसा कहकर, स्वयंभू-सर्वज्ञ भगवंतों को अपने ज्ञान में प्रत्यक्ष करके, मानों अपना आत्मा भी शुद्धोपयोग के बल से वर्तमान में केवलज्ञान और सुखरूप से परिणमित हो रहा हो!—ऐसे अद्भुत ढंग से स्वयंभू आत्मा का गुणगान किया है।

६६- अहो, आत्मा के उस पल को... उस क्षण को धन्य है कि जिस पल में... जिस क्षण में चैतन्य के शुद्धोपयोग के सामर्थ्य से वह स्वयं ही परिपूर्ण ज्ञान और सुखरूप होकर स्वयंभू होगा... और इसीप्रकार पूर्ण ज्ञान-आनन्दरूप से स्वयं सादि-अनंतकाल तक बना रहेगा।

६७- वे आत्मा भी धन्य हैं कि-जो स्वयंभू होकर अपने अतीन्द्रियज्ञान और आनन्द में सादि-अनंत विराज रहे हैं।

६८- वे आत्मा भी धन्य हैं कि जो ऐसे पूर्ण ज्ञान और आनन्द की अपूर्व आराधना कर रहे हैं।

६९- जिसका उदय ज्ञानप्रकाश से भरपूर तथा आनन्ददायक है—ऐसे स्वयंभू-सुप्रभात का उदय जयवंत हो!

७०- जिन्हें जानने से आत्मा के ज्ञान-आनन्दस्वभाव की पहिचान होती है—ऐसे ज्ञान-आनन्दमय स्वयंभू सर्वज्ञ परमात्मा को नमस्कार हो।

७१- निज कारणपरमात्मारूप परमपारिणामिकभाव में स्थित ऐसा नित्य स्वरूप प्रत्यक्ष अंत:तत्त्व-परमत्व में अभेद-एकमेक होने का उपाय ही जिनशासन का प्रयोजन है।

७२- अन्य कारकों से निरपेक्ष ऐसे 'स्वयंभू' आत्मा की प्रतीति करानेवाले.... और स्वयंभू होने का सत्य मार्ग दर्शानेवाले गुरुदेव को ७१ वें मंगल जन्मोत्सव प्रसंग पर हमारा नमस्कार हो!

धर्मात्मा की अनुभवदशा का वर्णन

तथा उस

अनुभव का उपाय

[राजकोट शहर में 'समयसार' गाथा १४२-४३-४४ पर
पूज्य गुरुदेव के जो महत्वपूर्ण प्रवचन हुए थे उनका सार]

स्वभाव का अवलम्बन लेकर आत्मा की शुद्धता का अनुभव करे, तब साधकपना और कृतकृत्यता होती है। भाई, विकल्पों के अवलम्बन में कहीं मोक्षमार्ग नहीं है; इसलिये उनका अवलम्बन छोड़..... उनसे पृथक् हो और ज्ञानस्वभाव में अपने उपयोग को युक्त कर.... अंतर्मुख होकर अतीन्द्रिय आनन्दरस के घूँट पी! ऐसी धर्मात्मा की अनुभवदशा है और यही उस अनुभव का उपाय है।

(१) जिसे आत्मा का कल्याण करना हो, उसे ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करके उसका राग से भिन्न अनुभव करना चाहिये, वही उपाय है। जब तक जीव ऐसा अनुभव न करे, तथा विकल्पों के वेदन में अटका रहे, तब तक आत्मा के चाहे जैसे विकल्प करने पर भी क्या हो सकता है ?—उन विकल्पों से कोई सिद्धि नहीं है, इसलिये उन विकल्पों के जाल को लाँघकर ज्ञानस्वभाव का अनुभव करो—ऐसा आचार्यदेव उपदेश करते हैं।

कर्म बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षम्।
पक्षातिक्रांतः पुनर्भण्यते यः स समयसारः ॥१४२॥

(२) 'मेरी पर्याय में कर्म का बंधन है'—ऐसे विचार में कोई जीव अटके तो उससे कहीं उसे बंधनरहित आत्मा का अनुभव नहीं होता; तथा 'मेरा स्वभाव कर्मबंध से रहित है'—ऐसे विचार में जीव अटक जाये तो उसे भी कहीं शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं हो जाता। दोनों प्रकार के विकल्पों से पृथक् होकर जब ज्ञान को अंतर्मुख करे, तभी शुद्धात्मा का साक्षात्कार होता है।

(३) देखो, इसमें क्या कहा है ? आचार्यदेव ने इसमें बहुत सुन्दर रहस्य भरा है। स्वभाव का अवलम्बन लेकर आत्मा की शुद्धता का अनुभव करे, तब साधकपना और कृतकृत्यता होती है। जब तक स्वभाव का ऐसा अवलम्बन न ले, तथा व्यवहार का और विकल्पों का अवलम्बन

लेकर उसमें अटके, तब तक जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती।

(४) निश्चय में आरूढ़ नहीं हुआ और व्यवहाररूप विकल्प करने में रुका तो 'उससे क्या?'—ऐसा कहकर आचार्यदेव उस व्यवहार—विकल्पों को मोक्षमार्ग में से बाहर निकाल देते हैं। भाई, उन विकल्पों के अवलम्बन में कहीं मोक्षमार्ग नहीं है; इसलिये उनका अवलम्बन छोड़, उनसे भिन्न हो और ज्ञानस्वभाव में अपने उपयोग को लगा। अंतर्मुख होकर अतीन्द्रिय आनन्दरस के घूँट पी!

(५) शरीर में विद्यमान प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न अपने शांतिस्वभाव से भरपूर है; वह अज्ञान के कारण बाह्य में अपनी शांति मानकर पर का कर्ता होता है; जो बाह्य में शांति ढूँढ़ता है, वह स्वयं ही शांति से भरपूर है; अपने में ही अपनी शांति है, उसे कैसे ढूँढ़ा जाये, उसकी यह बात है।

(६) अंतर्मुख होकर ढूँढ़ने से शांति प्राप्त होती है; इसके अलावा बाह्य में तो शांति है नहीं, तथा अंतर के विकल्पों में भी शांति नहीं है। 'मैं बंधनयुक्त हूँ' ऐसे विकल्प में शांति नहीं है; 'मैं अबंध हूँ'—ऐसे विकल्प में भी शांति नहीं है। अबंधनपने के विचार करते रहने से शांति प्राप्त नहीं होती, **किन्तु अबंधभावरूप परिणमित होने से शांति मिलती है।**

(७) ऐसी शांति कौन ढूँढ़े? चारों गति के जन्म-मरण से जो थक गया हो, चतुर्गति के चक्कर जिसे टालना हों, जो आत्मा का शोधक हो, वह जीव अंतर्मुख होकर शांति को ढूँढ़ता है। जिसे संसार में ही स्वाद आता हो, उसमें दुःख का आभास न हो, वह उससे छूटने का उपाय क्यों करेगा?

(८) भाई, बाहर वृत्ति भटके, वही दुःख है; फिर वह अशुभवृत्ति हो या शुभवृत्ति हो—दोनों में दुःख ही है। चिदानंदतत्त्व निर्विकल्प है, उसकी प्राप्ति विकल्प द्वारा कैसे होगी? विकल्प द्वारा चैतन्यतत्त्व का स्पर्श नहीं हो पाता। चैतन्यसत्ता को विकल्प की शरण नहीं है। ज्ञानी विकल्प की शरण नहीं लेते।

(९) जो जीव विकल्प की शरण मानता है, वह उस विकल्प का ही कर्ता होकर अटक जाता है, इसलिये निर्विकल्प चैतन्य की शांति का वेदन उसे नहीं होता। जो विकल्प की शरण मानता है, वह विकल्प से हटकर, विकल्प को लाँघकर स्वभाव में नहीं आता; उसे विकल्प में ही शांति का आभास होता है, इसलिये विकल्प के वेदन में ही तन्मय होकर उसके कर्तृत्व में रुकता है; परिणामतः उसे चैतन्यघन निर्विकल्प आत्मा का सम्यग्दर्शन नहीं होता।

(१०) 'मैं ज्ञानस्वभाव ही हूँ'—ऐसा अपने ज्ञान में दृढ़रूप से निर्णय करे, तथा अंतर के सूक्ष्म विकल्प में भी जिसे अशांति का भास हो, वह विकल्प को अपने ज्ञान से भिन्न जानता है; वह जीव विकल्प को लाँघकर चैतन्यस्वभाव में प्रवेश करता है तथा उसे भगवान आत्मा का सम्यग्दर्शन होता है; उसी का नाम आत्मा की प्रसिद्धि है, वही प्रथम धर्म है तथा वही मोक्ष का द्वार है।

(११) जिसप्रकार विकल्प में शांति मानकर उसके कर्तृत्व में अटकनेवाला जीव उससे आगे बढ़कर आत्मशांति प्राप्त नहीं कर पाता, उसी प्रकार जो जीव पर में शांति मानता है तथा पर का कर्तृत्व स्वीकार करता है, वह पर से पराङ्मुख होकर आत्मशांति प्राप्त नहीं कर सकता। चैतन्यस्वभावी आत्मा पर से भिन्न है, ज्ञाता है, इसलिये उसे पर का या विकल्प का कर्तृत्व नहीं है—ऐसा निर्णय करके जो जीव ज्ञानस्वभावोन्मुख होता है, वही आत्मशांति प्राप्त करता है।

(१२) चैतन्य का वास्तविक स्वरूप क्या है, उसे समझे बिना अज्ञान के कारण जीव ने चारों गति में अनंत दु:ख प्राप्त किये... उन दु:खों से जो भयभीत हुआ है तथा जिसे चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त जगत के अन्य किसी पदार्थ में सुख का आभास नहीं होता, **वह जीव चैतन्यस्वभाव का निर्णय करके ज्ञान को स्वोन्मुख करता है; बीच में आनेवाले विकल्पों को ज्ञान से भिन्न जानकर लाँघ जाता है। इसप्रकार विकल्प से भिन्न होकर वह ज्ञानस्वभाव की निर्विकल्प प्रतीति करता है, वह 'समयसार' है, वही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है।—ऐसी प्रतीति करना, सो चारगति के अनंत दु:खों से छूटने का उपाय है।**

(१३) चैतन्यतत्त्व जब विकल्प में भी नहीं आता तो वाणी में कैसे आयेगा ?—वह तो ज्ञान के स्वसंवेदन से अनुभवगम्य है। जिसने अंतर्मुख होकर स्वसंवेदन से आत्मा के परम आनन्द का अनुभव किया है, ऐसे धर्मात्मा भी वाणी से उसका वर्णन नहीं कर सकते; वाणी में तो मात्र उसकी कथनी आती है; वह आनन्द तो वाणी और विकल्प दोनों से पार है।

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहि ते पण श्री भगवान जो
तेह स्वरूपने अन्य वाणी तो शुं कहे ?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो....

(१४) विकल्प और वाणी—यह दोनों चिदानन्द तत्त्व से बाह्य हैं। जिसे चिदानन्द तत्त्व का लक्ष हो, उसे विकल्पों में दु:ख तथा आकुलता का अनुभव होता है, इसलिये उनमें वह नहीं

अटकता, किन्तु उनसे दूर होकर—पृथक् होकर चैतन्य में प्रवेश करता है।

(१५) वन में वास करनेवाले तथा आत्मानन्द की मस्ती में झूलते हुए वीतरागी दिगम्बर संत अपने स्वानुभव को प्रसिद्ध करते हैं कि अहो! चैतन्य की सन्मुखता से अनुभव में आनेवाला यह अतीन्द्रिय सुख किसी विकल्प में नहीं था, किसी बाह्य पदार्थ में तो इस सुख की गंध भी नहीं थी। अनंत काल के शुभाशुभ विकल्पों में कभी ऐसे सुख का अनुभव नहीं हुआ था। जिसे चैतन्य का लक्ष ही नहीं है, उसे सुख क्या और दुःख क्या,—उसकी भी खबर नहीं है; तो फिर दुःख दूर करने तथा सुख प्राप्त करने का सच्चा उपाय तो उसके कहाँ से होगा ?

(१६) अरे जीव! ऐसा अवतार प्राप्त करके यदि भवभ्रमण के दुःख से छूटने की कला तुझे न आई, तो तूने यह अवतार पाकर किया क्या ? सुख का उपाय अर्थात् भेदज्ञान की कला जाने बिना जो भी कुछ करेगा, वह अरण्य-रोदन के समान व्यर्थ है। **जो भेदज्ञान कर ले, उसे अंतर से भव के अंत की भनक आ जाती है.... सिद्धपद का संदेश उसे मिल जाता है कि-अब अल्पकाल में ही भव का नाश करके सिद्धपद प्राप्त करेंगे।**

जो जीव आत्मा का सच्चा जिज्ञासु होकर बारम्बार उसके अनुभव का प्रयत्न करता है, उसे क्या होता है ?—तत्सम्बन्धी सुन्दर विवेचन (इसी लेख का शेषांश) अगले अंक में पढ़िये।

'जयवंत वर्तो'

अहो, यह पवित्र आत्मा जयवंत वर्तो, जो आत्मा सम्यक्त्व की प्रभुता सहित है, जिसका ज्ञान पावन है, जिसकी चैतन्यमुद्रा पर अतीन्द्रिय आनन्द व्याप्त हो गया है तथा जो वैराग्यरूपी गम्भीर समुद्र में निमग्न है। (श्री उजमबा जैन स्वाध्याय गृह, उमराला की दीवारों से)

★

'सम्यग्दर्शन'

परम कल्याणकारी सम्यग्दर्शन की अपूर्व महिमा समझाकर, उसकी प्राप्ति का अमोघ उपाय दर्शानेवाले श्री कहान गुरुदेव के चरण कमल में अत्यन्त भक्ति पूर्वक नमस्कार हो... नमस्कार हो। (श्री उजमबा जैन स्वाध्याय गृह, उमराला की दीवारों से)

पंच परमेष्ठी के प्रति बहुमान

(श्री नियमसार गाथा ७१ से ७५ के प्रवचनों से; अंक १८९ के आगे)

धर्मात्मा को अपने चिदानन्दस्वरूप के आदरपूर्वक भगवान पंच परमेष्ठी के प्रति बहुमान होता है; क्योंकि आत्मा की पूर्ण शुद्धता उन धर्मात्मा को परम इष्ट है; इसलिये ऐसे परम इष्ट पद को प्राप्त अथवा उसकी साधना करनेवाले जीवों के प्रति धर्मी को बहुमान आता है कि—अहा! मैं जिस पद को प्राप्त करना चाहता हूँ—जो मेरा परम इष्ट है, उसे इन अरिहंत और सिद्ध भगवंतों ने प्राप्त कर लिया है, और यह आचार्य, उपाध्याय तथा मुनिवर उस पद की साधना कर रहे हैं।—इसप्रकार धर्मात्मा को पंचपरमेष्ठी के प्रति भक्ति वर्तती है। साधक को अपना आत्मा स्वानुभव से अंशतः प्रत्यक्ष है और अंशतः परोक्ष है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में तो अपने परम-इष्ट ऐसे चैतन्यस्वभाव को ही नमन करते हैं और उसी का आदर करते हैं; उसे व्यवहार सम्बन्धी राग है, उसमें अरिहंत देवादि पंच परमेष्ठी का बहुमान-विनय होती है। यहाँ नियमसार गाथा ७१ से ७५ में उन पंचपरमेष्ठी का स्वरूप श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने बतलाया है। वे स्वयं तीसरे परमेष्ठी-पद में वर्त रहे हैं और पंचपरमेष्ठी के बहुमानपूर्वक उनके स्वरूप का वर्णन करते हैं। पंचपरमेष्ठी में से पहले अरिहंत परमेष्ठी का और दूसरे सिद्धपरमेष्ठी का स्वरूप 'आत्मधर्म' अंक १८९ में आ चुका है; शेष तीन परमेष्ठी-आचार्य, उपाध्याय और साधु का स्वरूप यहाँ दिया जा रहा है।

(३) आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप

पंचाचार समग्राः पंचेन्द्रियदंतिदर्प्पनिर्दलनाः।
धीरा गुणगम्भीरा आचार्य्या ईदृशा भवन्ति॥७३॥

कैसे हैं आचार्य परमेष्ठी? सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानादि पाँच आचारों से परिपूर्ण हैं; पाँच इन्द्रियों रूपी जो हाथी, उसके मद का दलन करने में दक्ष है-कुशल हैं, धीर हैं, और गुणगंभीर हैं; अगाध गुणों के समुद्र हैं।—ऐसा आचार्यपद परम इष्ट है। अहा, केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी में प्रवर्तमान ऐसा परम आचार्यपद बहुमान के योग्य है, वंदनीय है। अंतर में मिथ्यात्वादि परिग्रह रहित और बाह्य में वस्त्रादि परिग्रह रहित, ऐसे रत्नत्रय सम्पन्न मुनिवर शुद्धोपयोग के बल से

केवलज्ञान को साध रहे हैं; वीतराग मार्ग में प्रत्येक मुनि की ऐसी दशा होती है; तदुपरान्त विशेष योग्यता से जो अन्य मुनियों को दीक्षा-शिक्षा देते हैं, ऐसे जैन-शासन के धुरंधर आचार्य होते हैं।

वे आचार्य भगवंत ज्ञानादि पंचाचार से परिपूर्ण होते हैं। यहाँ 'ज्ञानाचार से परिपूर्ण' ऐसा कहा, इसलिये केवलज्ञान नहीं समझना चाहिये, किन्तु सम्यग्ज्ञान के विनयादि आठ आचार हैं, वे समझना। काल-विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यंजन और तदुभयसम्पन्न—इन आठ ज्ञानाचार के पालन में कुशल हैं, इसलिये वे ज्ञानाचार से परिपूर्ण हैं।

उसीप्रकार सम्यग्दर्शन के आठ आचार हैं—निःशंकता, निःकांक्षता, निर्विचिकित्सा, निर्मूढ़ता, उपगूहन, उपवृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

पंच महाव्रत तीन गुप्ति और पाँच समिति—यह चारित्र आचार हैं।

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—ऐसे बारह प्रकार के तपाचार हैं।

तथा ज्ञानादि आचारों में स्वशक्ति को छिपाये बिना प्रवर्तन, सो वीर्याचार है।

श्री आचार्य महाराज ऐसे पाँच आचारों का परिपूर्ण पालन करनेवाले हैं। अभी तो जिसके श्रद्धा-ज्ञान का भी ठिकाना न हो, मुनिदशा के मूलगुणों को ठिकाना न हो, उसे आचार्यपद नहीं होता; तथापि जो उसे आचार्य माने, वह कुगुरु को माननेवाला है। अहा! आचार्यपद तो तीर्थंकर का पड़ोसी पद है, केवलज्ञान लेने की तैयारी में वे झूल रहे हैं।

पुनश्च, कैसे हैं आचार्य परमेष्ठी ?

अतीन्द्रिय चिदानन्दस्वभाव के अवलम्बन द्वारा पाँचों इन्द्रियों के मद को चूर्ण कर दिया है, पाँचों इन्द्रियों की ओर से संकुचित होकर उनकी परिणति चैतन्यस्वभाव में ढल गई है। पहले अज्ञान या अस्थिरता के कारण परिणति इन्द्रिय-विषयों की ओर जाती थी, तब इन्द्रियाँ मदांध थीं, किन्तु विषय-कषाय रहित होकर चिदानन्दस्वरूप में स्थिर होने के कारण इन्द्रिय-विषयों की ओर वृत्ति ही नहीं रही, इसलिये इन्द्रियोंरूपी मदोन्मत्त हाथी का मद चूर्ण हो गया। इसप्रकार पंचेन्द्रियरूपी गज के मद को चूर्ण कर देने में आचार्यपरमेष्ठी समर्थ हैं। अतीन्द्रिय आनन्द में परिणति स्थिर हुई, वहाँ इन्द्रियाँ पराजित हो गईं।

और, अनेक प्रकार के घोर उपसर्गों पर विजय प्राप्त करते हैं इसलिये, अर्थात् घोर उपसर्ग के समय भी निज स्वरूप से चलायमान नहीं होते, इसलिये आचार्य भगवंत धीर और गुणगम्भीर

हैं। चैतन्य की साधना करते हुए बीच में अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ सहज ही प्रगट हो जाती हैं; चक्रवर्ती की सेना को भी क्षणमात्र में पराजित कर दें, ऐसा सामर्थ्य प्रगट होता है; परन्तु चैतन्य के परमानन्द के अनुभव की धुन में पड़े हुए संतों को उस ऋद्धि के प्रयोग का लक्ष नहीं है; घोर प्रतिकूलता आ जाने पर भी ऋद्धि का प्रयोग-उपयोग नहीं करते;—ऐसे धीर और गम्भीर हैं।

साधारण प्राणियों को किंचित् ऋद्धि प्राप्त हो जाये तो उसे पचा नहीं सकते; थोड़ी-सी प्रतिकूलता आने पर धैर्य खो देते हैं..... किन्तु चैतन्य की साधना करनेवाले संत तो महा धीर-गंभीर होते हैं। चाहे जैसी ऋद्धि प्रगट हो, परन्तु मेरी चैतन्य-ऋद्धि के समक्ष उसकी क्या महत्ता! और चाहे जैसी प्रतिकूलता आये किन्तु मेरे चैतन्य में प्रतिकूलता करने की शक्ति किसी में नहीं है;—ऐसा जाननेवाले धर्मात्मा चैतन्य के अवलम्बन से घोर उपसर्ग को भी जीत लेते हैं।—इसप्रकार वे गुणगंभीर और धीर हैं।

श्री वादिराज सूरि कहते हैं कि—अहा, ऐसे गुणगंभीर आचार्यों को भक्तिक्रिया में कुशल ऐसे हम भवदु:ख को भेदने के लिये पूजते हैं। देखो तो सही! आचार्यदशा में झूलते हुए संत कहते हैं कि—हम भक्तिक्रिया में कुशल हैं... रत्नत्रय के धारक आचार्य भगवन्तों के प्रति अथवा भगवान के प्रति हमें भक्ति का प्रमोद उल्लसित हो उठता है। रत्नत्रयधारी संतों के प्रति या भगवान के प्रति जैसी भक्ति धर्मात्मा को उल्लसित होगी, वैसी अज्ञानी को नहीं आयेगी, इसलिये वास्तव में रत्नत्रय को जाननेवाले धर्मात्मा जीव ही भक्तिक्रिया में कुशल हैं। जिसे रत्नत्रय अथवा मुनिदशा आदि की यथार्थ प्रतीति ही नहीं है, उसे उनके प्रति भक्ति में कुशलता कहाँ से होगी?—नहीं हो सकती; इसलिये जिसने सम्यग्दर्शनादि का सच्चा स्वरूप नहीं जाना, वह भक्तिक्रिया में कुशल नहीं है किन्तु अकुशल है; उसकी भक्ति अकेली रागरूप है, जबकि धर्मात्मा की भक्ति तो वीतरागता के अंशसहित है।

यहाँ कहते हैं कि—भक्तिक्रिया में कुशल ऐसे हम उन आचार्यों को पूजते हैं।—किसलिये?—कि भवदु:खराशि को भेदने के लिये। क्या अकेली रागरूपभक्ति से भवराशि का भेदन होता है? नहीं; भव का भेदन तो वीतरागता से ही होता है, और वीतरागता तो स्वसन्मुखता से ही होती है।—इसलिये स्वसन्मुखतासहित भक्ति जिनके वर्तती है, वे ही भक्तिक्रिया में कुशल हैं। अकेली परोनमुखता से जो भव का भेदन करना चाहता है, वह भक्तिक्रिया में कुशल नहीं किन्तु अकुशल है।

आचार्य भगवंत अकिंचनता के स्वामी हैं। चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरा नहीं है—ऐसी निर्मोह परिणति का नाम 'अकिंचन' है; मुनिवर ऐसी अकिंचन परिणति के स्वामी हैं अर्थात् ऐसी निर्मोह-वीतरागी पर्यायरूप से वे परिणमित हुए हैं और कषायों का नाश कर दिया है।

अब एक सरस बात करते हैं—आचार्य परिणमित ज्ञानबल द्वारा महा पंचास्तिकाय की स्थिति समझाते हैं। क्या कहते हैं?—कि 'परिणमित ज्ञानबल द्वारा'—अर्थात् जीवादि का ज्ञान उनके आत्मा में परिणमित हो गया है; अकेले शास्त्रज्ञान के बल से देशना नहीं करते, किन्तु पंचास्तिकाय के ज्ञानरूप से स्वयं परिणमित होकर, उस परिणमित ज्ञान द्वारा पंचास्तिकाय का स्वरूप समझाते हैं। इसप्रकार आचार्यों की देशना के पीछे परिणमित ज्ञान का बल है; अर्थात् देशनालब्धि में ज्ञानरूप से परिणमित आत्मा ही निमित्त होती है, अज्ञानी निमित्त नहीं होता;—यह बात भी इसमें आ जाती है।

देखो, यह आचार्यदशा!! आचार्य के अतिरिक्त अन्य मुनियों को भी यह बात लागू होती है। जहाँ 'परिणमित ज्ञान का बल' न हो और राग का ही बल हो (राग की ही अधिकता भासित होती हो)—वहाँ मुनिदशा या आचार्यपद नहीं होता। जिसप्रकार अग्नि के कण-कण में उष्णता परिणमित हो गई है, उसीप्रकार मुनियों के रोम-रोम में जीवादि तत्त्वों का ज्ञान परिणमित होगया हे; उनकी परिणति का ज्ञानबल इतना है कि मानों अभी हाल केवलज्ञान प्राप्त कर लेंगे। उनके रोम-रोम में वीतरागी शान्त भाव व्याप्त हो गया है.... उनकी मुद्रा देखो तो वैराग्य की मूर्ति!! उनके असंख्य प्रदेश में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि गुणों का समुद्र उछलता है... अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव की डकारें लेते हैं। चैतन्यस्वरूप में संलग्नता के लिये जिनकी बुद्धि स्थिर है, स्थिरबुद्धि से चैतन्य के अवलोकन में जो निपुण हैं.... ऐसी परिणतिवाले गुणों के समुद्र आचार्य भगवन्तों को हम भक्तिपूर्वक पूजते हैं... उनके चरणकमल में हमारा नमस्कार हो।

यहाँ आचार्य परमेष्ठी की स्तुति में पद्मप्रभ मुनिराज कहते हैं कि यह श्री चन्द्रकीर्ति मुनि का निरुपम चैतन्य-परिणमन वंद्य है।—कैसा है वह चैतन्य परिणमन? सकल इनिद्रयों के अवलम्बन से रहित है; अनाकुल है; स्वहित में लीन है; शुद्ध है; मोक्ष के कारणरूप शुक्लध्यान का वह कारण है; शांति का धाम है; संयम का स्थान है। जहाँ ऐसा चैतन्यपरिणमन हो, वहीं आचार्यपद हो सकता है। ऐसे चैतन्यपरिणमनवाले आचार्य परमेष्ठी को नमस्कार हो। यहाँ एक चन्द्रकीर्ति आचार्य का नाम लिया, उसमें ऐसी चैतन्यदशा वाले समस्त आचार्यों को नमस्कार आ जाता है। जिसप्रकार

एक सिद्ध को नमस्कार करने से सर्व सिद्धों को नमस्कार आ जाता है; एक सर्वज्ञ को नमस्कार करने से समस्त सर्वज्ञों को नमस्कार आ जाता है; उसीप्रकार एक आचार्य को नमस्कार करने से समस्त आचार्यों को नमस्कार आ जाता है, क्योंकि गुणदृष्टि से उनमें एकता है अर्थात् भेद नहीं है। इस ७३वीं गाथा में वर्णित गुण जिनमें हों, उन्हीं को जैन शासन में आचार्य परमेष्ठी स्वीकार किया गया है, और 'णमो आइरियाणं' में उन्हीं आचार्यों का समावेश होता है। जो उनसे विरुद्ध हों, विपरीत श्रद्धावाले हों, वस्त्रादि परिग्रहवाले हों, ऐसे जीवों को भले ही हजारों लोग एकत्रित होकर आचार्य की पदवी दें, तथापि जैन शासन में उन्हें आचार्य परमेष्ठी के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता, और णमोकार मंत्र के तीसरे पद में अथवा किसी भी पद में उनका समावेश नहीं होता। यही बात उपाध्याय और साधु परमेष्ठी के लिये लागू होती है।

कोई ऐसा कहे कि—'णमो लोए सव्व साहूणं' में लोक के सर्व साधुओं को नमस्कार किया है; इसलिये जैन के अतिरिक्त अन्य सब साधुओं का भी उसमें समावेश करना चाहिये; तो यह बात बिल्कुल झूठी है। अरे, जैन नाम धारण करनेवाले लोगों को अभी नमस्कार मंत्र का सच्चा अर्थ मालूम नहीं है; पंचपरमेष्ठी की क्या दशा है, उसकी भी उन्हें पहिचान नहीं है। जिसे अभी रत्नत्रय धर्म की गंध भी नहीं है, मोक्ष का साधकपना रंचमात्र भी प्रगट नहीं हुआ, उसे साधुदशा कैसी ?—उसे पंचपरमेष्ठी में नमस्कार कैसा ? सम्यग्दर्शन एक अलौकिक अचिन्त्य वस्तु है, वह जैनमत के अतिरिक्त अन्यमत में नहीं हो सकती, तो फिर सम्यग्दर्शन की अपेक्षा उच्च ऐसी साधुदशा-परम इष्टपद-वह तो अन्यत्र होगा कहाँ से ? और आचार्य तो साधुओं में भी शिरोमणि हैं।

—ऐसे आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप कहा। अब उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप कहते हैं—

(४) उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप

अरिहंत, सिद्ध और आचार्य—तीन परमेष्ठियों का स्वरूप कहकर उनका बहुमान किया। अब चौथे उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप कहते हैं। जिनके प्रति नमस्कार या बहुमान करना हो, उनका स्वरूप जानना चाहिये; क्योंकि स्वरूप को जाने बिना तो ज्ञात नहीं होता कि मैं किसका बहुमान करता हूँ ?—इसलिये स्वरूप को जानने पर ही सच्चा बहुमान आता है। कैसे हैं उपाध्याय परमेष्ठी ?—

रत्नत्रयसंयुक्ताः जिनकथितपदार्थदेशकाः शूराः।
निःकांक्षभावसहिताः उपाध्याया ईदृशा भवन्ति॥७४॥

उपाध्याय परमेष्ठी रत्नत्रय से संयुक्त हैं, जिनवरदेव कथित पदार्थों के शूरवीर उपदेशक हैं और निष्कांक्षभावयुक्त हैं। टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि ऐसे उपाध्याय भगवन्तों को मैं पुनः-पुनः वंदन करता हूँ। आचार्य, उपाध्याय और मुनि—यह तीनों परमगुरु हैं।

आचार्य को पंचाचार से परिपूर्ण कहा, उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आ ही गये।

उपाध्याय को रत्नत्रय संयुक्त कहा, उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आ गये। और

साधु को चतुर्विध आराधना में रत कहेंगे, उसमें भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आ गये।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह गुरु का मूल स्वरूप है, और सर्वज्ञता, वह देव का (अरिहंत और सिद्ध का) मूल स्वरूप है। सर्वज्ञता के बिना अरिहंत या सिद्ध पद नहीं होता और रत्नत्रय के बिना आचार्य, उपाध्याय या साधुपद नहीं होता। इसप्रकार देव-गुरु के यथार्थ स्वरूप को जाने तो अपने में भी भेदज्ञान हो और देव-गुरु का अलौकिक बहुमान आये। यद्यपि देव-गुरु के बहुमान का विकल्प भी राग है, परन्तु प्रतीतिपूर्वक का जैसा परम बहुमान ज्ञानी को आयेगा, वैसा अज्ञानी के नहीं होता।

यह उपाध्याय परमगुरु का वर्णन है। अहा, उपाध्याय पद भी अलौकिक है। साधारण संस्कृत-प्राकृत पढ़कर अथवा शास्त्राध्ययन करके उपाध्यायपना मान बैठे तो वह कहीं सच्चा उपाध्याय-पद नहीं है, वह तो उपाधि है। रत्नत्रय की साधना करनेवाले मुनि भी जिनके पास शास्त्राध्ययन करते हैं, वह उपाध्याय पद है। वे उपाध्याय सर्व प्रथम तो परम चिद्रूप के श्रद्धान-ज्ञान और आचरणरूप निश्चयरत्नत्रयवान होते हैं। तदुपरान्त भगवान जिनेन्द्रदेव ने जैसे जीवादि पदार्थ कहे हैं, उनके उपदेश में वे शूरवीर हैं। यथार्थतत्त्व से विपरीत बात को युक्ति के, आगम के और अनुभव के बल से तोड़ देते हैं। जिन्हें भवभ्रमण का भय है और जो जिनेन्द्र मार्ग के उपासक हैं;—ऐसे उपाध्याय का उपदेश भगवान की वाणी अनुसार ही होता है.... मानो जिनेन्द्र भगवान ही उनके हृदय में बैठकर बोल रहे हों! जिसे जिनेन्द्रदेव के कहे हुए तत्त्वों की प्रतीति न हो, वह उनके उपदेश में शूरवीर कहाँ से होगा? नहीं हो सकता। ज्ञानी ही भगवान के कहे हुए तत्त्वोपदेश में कुशल होते हैं; और उनमें भी उपाध्याय तो सर्व ओर से उपदेश में शूरवीर हैं। यद्यपि उपदेश की वाणी तो जड़ है; वह कहीं आत्मा का कार्य नहीं है, परन्तु उपाध्याय को वैसे ज्ञान का विशेष क्षयोपशम होता है—ऐसा यह बतलाना है।

और वे उपाध्याय निष्कांक्षभाव युक्त होते हैं—किसप्रकार?—कि समस्त परिग्रह के

परित्यागस्वरूप जो निरंजन निज परमात्मतत्त्व उसकी भावना से उत्पन्न होनेवाले परमवीतराग सुखामृत के पान में सन्मुख होने से वे उपाध्याय परमेष्ठी समस्त कांक्षा से रहित हैं। चैतन्य सुख के निकट जगत के कौन से सुख की वांछा होगी? परमात्मतत्त्व की भावना से जो वीतरागी सुख का अनुभव कर रहे हैं, ऐसे संतों को सांसारिक सुखों की (विषयों की) वांछा कैसी होगी?—नहीं हो सकती।—इसप्रकार वे निष्कांक्ष हैं, जगत से निस्पृह हैं।

जिनका आत्मा रत्नत्रययुक्त है; आत्मा स्वयं ही रत्नत्रयरूप परिणमित हो गया है, और रत्नत्रययुक्त होने से जो शुद्ध हैं; मिथ्यात्वादि अशुद्ध भावों का जिनके अभाव है, तथा जो भव्य-कमल के सूर्य हैं, जिनका वीतरागी उपदेश झेलने से भव्य जीवोंरूपी कमल विकसित हो जाते हैं और जो वीतरागमार्ग के उपदेशक हैं—ऐसे जैन उपाध्याय परमेष्ठी को पुनः पुनः वंदन हो।

—इसप्रकार उपाध्याय का स्वरूप कहा। अब, पाँचवें साधु परमेष्ठी का स्वरूप कहते हैं:—

(५) साधु परमेष्ठी का स्वरूप

व्यापारविप्रमुक्ताः चतुर्विधाराधनासदारक्ताः।
निर्ग्रन्था निर्मोहाः साधवः एतादृशा भवन्ति॥७५॥

जैन मार्ग के साधु कैसे होते हैं?—कि व्यापार से विमुक्त होते हैं—मंदिर आदि की व्यवस्था करना या पुस्तकें प्रकाशित कराने या बेचने की व्यवस्था करना—ऐसी प्रवृत्तियों का व्यापार मुनियों को नहीं होता; उनके तो एक चैतन्य का व्यापार है—चैतन्य में ही उपयोग को बारम्बार लगाते हैं; अन्य व्यापार से वे रहित हैं और चतुर्विध आराधना में सदैव रत हैं; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एवं तप में अपना पुरुषार्थ लगाते ही रहते हैं; और वे निर्ग्रन्थ हैं—मिथ्यात्वादि परिग्रह की ग्रन्थि जिनके नहीं है, तथा वस्त्रादि परिग्रह भी जिनके नहीं है; तथा वे निर्मोह हैं।—ऐसे साधु होते हैं।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस नियमसार की ७१ से ७५—इन पाँच गाथाओं में पंच परमेष्ठी का स्वरूप बतलाया है। उसमें:—

(७१) अरिहंता एरिसा होंति। (अरिहंत ऐसे होते हैं।)

(७२) सिद्धा एरिसा होंति। (सिद्ध ऐसे होते हैं।)

(७३) आयरिया एरिसा होंति। (आचार्य ऐसे होते हैं।)

(७४) उवज्झाया एरिसा होंति। (उपाध्याय ऐसे होते हैं।)

(७५) साहू एरिसा होंति। (साधु ऐसे होते हैं।)

—इसप्रकार प्रत्येक पद में 'एरिसा होंति'—ऐसा कहकर मानों कि पाँचों परमेष्ठी भगवंत साक्षात् सन्मुख ही—दृष्टि के समक्ष ही प्रत्यक्ष वर्त रहे हों—ऐसा वर्णन किया है।

'देखो, यह रहे अरिहंत, यह रहे सिद्ध, यह रहे आचार्य, यह रहे उपाध्याय और यह रहे साधु!'—इसप्रकार 'एरिसा होंति' कहकर मानों आचार्यदेव उनका साक्षात् दर्शन करा रहे हैं। स्वयं विदेहक्षेत्र जाकर सबकुछ साक्षात् देख आये हैं—और मानों वह सब आँखों के सामने तैर रहा हो—ऐसा अद्भुत कथन आचार्य भगवान ने किया है।

'णमो लोए सव्वसाहूणं'—अर्थात् लोक के सर्व साधुओं को नमस्कार हो।—इस नमस्कार में कैसे साधु आते हैं?—जगत के समस्त साधु आते हैं, यह बात सच है, परन्तु वे साधु होना चाहिये न! कुसाधु तो उसमें नहीं आते। यदि कुसाधु को साधु मानकर नमस्कार करे, तब तो मिथ्यात्व है। 'णमो लोए सव्वसाहूणं' में आनेवाले साधु कैसे होते हैं, वह यहाँ समझाया है। निर्ग्रंथ होते हैं, निर्मोह होते हैं, संसार सम्बन्धी समस्त व्यापार से रहित हों और चार आराधना में सदा तत्पर हों—वे साधु हैं, वे मोक्ष के साधक हैं। वस्त्रादिसहित होकर भी अपने को साधुपना मानें, वे तो संसार के साधक हैं; मोक्ष के साधक नहीं हैं; इसलिये वे साधु नहीं हैं। भले ही द्रव्यलिंग (दिगम्बरदशा, पंचमहाव्रतादि शुभराग) धारण किया हो, परन्तु यदि राग में धर्म मानकर अटका और राग के पार ऐसे चैतन्य की साधना नहीं की तो वह भी संसारतत्त्व ही है—ऐसे प्रवचनसार में आचार्यदेव ने कहा है। 'साधु' तो उसे कहा जाता है जो मोक्ष को साधे। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन तीन को साधु कहा जाता है, क्योंकि वे मोक्ष के साधक हैं। और जो ऐसे साधु भाव को (सम्यग्दर्शनादि को) धारण करते हैं] वे साधु हैं, वे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा मोक्ष की साधना कर रहे हैं। सम्यग्दर्शन भी मोक्ष का साधक होने से सम्यक्त्व को भी उस साधक अंश की अपेक्षा उतना साधुपना कहा जायेगा, किन्तु पंचपरमेष्ठी पद के साधुपने में वे नहीं आयेंगे। परमेष्ठीपद तो जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान के अतिरिक्त चारित्रदशा प्रगट हुई हो, वहीं होता है। अकेले आत्मज्ञान से या सम्यग्दर्शन से मुनिपना नहीं है, परन्तु आत्मज्ञान और सम्यग्दर्शन के उपरान्त उग्र पुरुषार्थ से स्वरूपस्थिरतारूप चारित्रदशा हो, तभी मुनिपना होता है। इतना सच है कि आत्मज्ञान हो, तभी मुनिपना हो सकता है, आत्मज्ञान के बिना तो मुनिपना होता ही नहीं—ऐसा नियम है।

आत्मज्ञान हो तथापि मुनिपना न हो; और हो भी, किन्तु उसमें कोई नियम नहीं है।

'णमो लोए सव्वसाहूणं' में यह सब आ जाता है; किन्तु अधिकांश लोग तो वस्तु स्वरूप को समझे बिना मात्र पाठ रट लेते हैं। एक साधु के स्वरूप को जान ले, तब भी भेदज्ञान हो सकता है। पंचपरमेष्ठी में से किसी भी एक के स्वरूप को जान ले—अरे, सम्यग्दृष्टि के स्वरूप को जान ले, तब भी जीव के अंतर में अपने यथार्थ स्वभाव का लक्ष हो जाता है और स्वयं भी उनकी जाति में मिल जाता है। 'सजाति' हुए बिना अर्थात् उन्हीं की जाति का अंश अपने में प्रगट किये बिना अरिहंतादि के स्वरूप का सच्चा निर्णय नहीं हो सकता। अहा! इसमें भी निश्चय-व्यवहार की अद्भुत संधि है। जैनशासन का रहस्य अंतर्मुख-स्वोन्मुख होने से ही समझ में आता है.... मोक्षमार्ग की भी यही रीति है। जो अंतरस्वभावोन्मुख होकर चैतन्य की साधना में रहते हैं, वे ही साधु हैं! जो चैतन्य में रत न हों और राग में या परद्रव्य के परिग्रह में रत हों, उन्हें साधुपना कहाँ से होगा? परद्रव्य में तथा परभाव में लीन रहनेवाला जीव स्वपद की साधना कहाँ से करेगा? जैनशासन में समस्त साधु स्वपद को साधने में तत्पर होते हैं; उनमें से कोई साधु सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प आनन्द में विराजते हों और कोई छठवें गुणस्थान में सविकल्पदशा में वर्तते हों—अर्थात् कोई साधु शुद्धोपयोग में वर्तते हों और कोई शुभोपयोग में वर्त रहे हों—ऐसे भेद होते हैं; परन्तु कोई साधु वस्त्र रहित दिगम्बर हों और कोई वस्त्रसहित हों—ऐसे भेद तो जैनशासन में नहीं हैं। **अंतर और बाह्य निर्ग्रंथ दिगम्बरदशा के बिना कोई जीव जैनशासन के 'णमो लोए सव्वसाहूणं' पद में नहीं आ सकता।** साधुपना तो जैनशासन का परम-इष्ट परमेष्ठी पद है।

जैनशासन के साधु कैसे होते हैं?—यह बात स्वयं साधुदशा में वर्तते हुए कुन्दकुन्दाचार्य और पद्मप्रभमुनिराज समझा रहे हैं। जैनशासन के साधु तो परम संयमी महापुरुष होने से त्रिकाल निरंजन निरावरण परम पंचमभाव की भावना में परिणमित होते हैं तथा समस्त बाह्य व्यापार से विमुक्त होते हैं। देखो, यह महापुरुषों का कार्य! सर्व श्रेष्ठ-महान ऐसा जो अपना परम पंचमस्वभाव, उसकी भावना ही महापुरुषों का कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त राग की और बाह्य विषयों की भावना तो तुच्छ जीवों—मिथ्यादृष्टियों का कार्य है। महापुरुष ऐसे मुनिवर तो अंतर में चिदानन्द-स्वभाव की भावना में परिणमित हो गये हैं; तथा वे साधु ज्ञान-दर्शन-चारित्र और चतुर्विध आराधना में सदा अनुरक्त हैं; बाह्य-अभ्यंतर समस्त परिग्रह रहित होने से निर्ग्रंथ हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से विरुद्ध ऐसे मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो मोह, उसका अभाव

होने से मुनि निर्मोह हैं। ऐसे निर्ग्रंथ-निर्मोह मुनिवर मोक्ष की साधना में ही तत्पर हैं; जगत के स्त्री आदि पदार्थों को देखने का कुतूहल उनको नहीं रहा; वे तो वीतराग होकर अतीन्द्रिय आनन्दरूप ऐसी जो मुक्तिसुन्दरी, उसकी अनुपमता का अवलोकन करने में ही कुतूहल बुद्धिवाले हैं, अर्थात् मोक्ष के अतिरिक्त अन्य कुछ उन्हें प्रिय नहीं है; मोक्ष की साधना के अतिरिक्त अन्य कहीं उनकी बुद्धि नहीं भटकती। ऐसे साधु अल्पकाल में ही मोक्ष सुख को साध लेते हैं। टीकाकार मुनिराज उनका बहुमान करते हैं कि—भववाले जीवों के भवसुख से जो विमुख हैं और सर्वसंग के सम्बन्ध से जो विमुख हैं—ऐसे उन साधु का मन हमें वंद्य है। हे साधु! उस मन को शीघ्र निजात्मा में मग्न करो... समग्ररूप से अंतर में मग्न करके शीघ्र केवलज्ञान प्राप्त करो। वास्तव में तो स्वयं साधुपद में वर्त रहे हैं और अपने आत्मा का सम्बोधन करके कहते हैं कि—अरे आत्मा! तूने मुनिदशा तो प्रगट की, अब अपने उपयोग को शीघ्र आत्मस्वभाव में मग्न करके तू केवलज्ञान प्रगट कर। तू केवलज्ञान का साधक हुआ... अब चैतन्य में लीन होकर शीघ्र केवलज्ञान को साध ले।

हे सिद्धपद के साधक साधु परमेष्ठी! तुम्हारे चैतन्य परिणमन को हमारा नमस्कार हो...

इसप्रकार बहुमानपूर्वक भगवान पंचपरमेष्ठी का वर्णन समाप्त हुआ.... वे परमेष्ठी भगवंत हमारा कल्याण करें... उन्हें हमारा नमस्कार हो!

णमो अरिहंताणं।
णमो सिद्धाणं।
णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं।
णमो लोए सव्वसाहूणं॥

अनंत शक्तिसम्पन्न चैतन्यधाम

उसे पहिचानकर, उसके सन्मुख होओ!

चैतन्य में अपार शक्ति है, उसकी अनंत शक्तिसम्पन्न अचिन्त्य महिमा है; उसकी शक्तियों को पहिचाने तो उसकी महिमा आये, और जिसकी महिमा आये, उस ओर उन्मुखता हुए बिना न रहे।—इसप्रकार स्वसन्मुखता होने से अपूर्व सुख-शांति और धर्म होता है। ऐसी स्व-सन्मुखता करने के लिये आचार्य भगवान ने चैतन्यशक्तियों का अद्भुत वर्णन किया है। उस पर पूज्य गुरुदेव के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचनों का दोहन यहाँ दिया जा रहा है।

[वीर संवत् २४८६ भाद्रपद कृष्णा १३ से प्रारम्भ]

१- शरीर से भिन्न जो यह चैतन्यतत्त्व है, उसके स्वरूप की महत्ता जीव ने कभी नहीं जानी। अपनी महत्ता को भूलकर, निजशक्ति को भूलकर विकार में और पर में अपना कर्तव्य मान रहा है, वह विपरीत दृष्टि ही दु:ख की खान है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझे तो वह दृष्टि छूट जाये; इसलिये आचार्यदेव उसकी पहिचान कराते हैं।

२- भाई, परवस्तुओं के कार्य में तेरा कोई अधिकार नहीं है; और तेरे कार्य में परवस्तुओं का कोई अधिकार नहीं है। तदुपरान्त तुझमें स्वयं में भी जो शुभाशुभ विकल्पों का उत्थान होता है, उसमें भी तेरा सुख नहीं है; वह भी तेरा सच्चा कर्तव्य नहीं है; तेरा चिदानन्दस्वभाव उससे भिन्न है।

३- इसप्रकार पर से भिन्न और विकार से भी पृथक् ऐसा तेरा आत्मा है; उसकी स्वभावशक्तियाँ कैसी हैं, तथा उसका वास्तविक कर्तव्य क्या है, उसकी यह बात है। तेरे चैतन्यधाम में अनंत शक्तियाँ भरी हुई हैं, किन्तु उन्हें भूलकर तू दु:खी हो रहा है। 'आत्मसिद्धि' के प्रारम्भ में श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि—

''जो स्वरूप समझे बिना, पाया दु:ख अनंत,
समझाया वह पद नमूँ, श्री सद्गुरु भगवंत।''

देखो, दु:ख क्यों पाया? तो कहते हैं कि स्वरूप को नहीं समझा इसलिये। दु:ख का अन्य कोई कारण नहीं है। पैसे के बिना दु:ख पाया, ऐसा नहीं कहा; स्त्री के बिना दु:ख पाया, ऐसा नहीं कहा; पुण्य के बिना दु:ख पाया, ऐसा भी नहीं कहा; किन्तु स्वरूप को समझे बिना दु:ख पाया। वह

दु:ख कैसे दूर हो सकता है?—कि स्वरूप को समझे तो। आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है—उसे समझने की यह बात है।

४- अरे प्रभु! तेरा बड़प्पन तेरे चिदानन्दस्वभाव से ही है; राग से तेरा बड़प्पन नहीं है; शरीरादि संयोगों से तेरा बड़प्पन नहीं है; लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति से तेरा बड़प्पन नहीं है; परम महिमावान ऐसा जो विशुद्धज्ञानस्वभाव है, उसी से तेरा बड़प्पन है। ऐसे स्वभाव को ज्ञानलक्षण द्वारा अंतर में ग्रहण करने से ज्ञान की निर्मल परिणति होती है; उस निर्मल ज्ञानपरिणति में आनन्द, श्रद्धा आदि अनंत शक्तियाँ भी साथ ही परिणमित होती हैं। ऐसे ज्ञानस्वभाव को जाने बिना जीव अन्य सबकुछ अनंत बार कर चुका है किन्तु उससे लेशमात्र सुख प्राप्त नहीं हुआ।

मुनिव्रतधार अनंतबार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।

मिथ्यादृष्टि के लिये सबसे ऊँचा स्थान देवलोक में नवमीं ग्रैवेयक है; अज्ञानसहित व्रत-तप करके अनंतबार नवमीं ग्रैवेयक तक जीव गया, परन्तु आत्मज्ञान के बिना वहाँ भी किंचित् सुख नहीं पाया। अनंत शक्ति सम्पन्न चैतन्यस्वभाव को क्षणिक राग की वृत्ति में बेच दिया और राग का आदर करके संसार में ही भटकता रहा।

५- अंतर सुख स्वभाव को पहिचाने और उसकी महिमा आये तो उसे उन्मुख होने का प्रयत्न आरम्भ हो। किन्तु जहाँ बाहरी महिमा ही वर्त रही हो अथवा राग की महिमा वर्त रही हो, वहाँ स्वोन्मुखता का प्रयत्न कैसे आरम्भ हो सकता है? जहाँ महिमा भासित हो, वहाँ से क्यों हटेगा? चैतन्य में अपार शक्ति है, उसकी अनंत शक्ति सम्पन्न अचिन्त्य महिमा है, उसकी शक्तियों को पहिचाने तो उसकी महिमा आये, और जिसकी महिमा आये, उस ओर उन्मुखता हुए बिना न रहे। इसप्रकार स्वसन्मुखता होने से अपूर्व सुख-शांति और धर्म होता है। ऐसी स्वोन्मुखता कराने के लिये यहाँ आचार्य भगवान चैतन्य की शक्तियों का वर्णन करते हैं।

६- पहली जीवत्वशक्ति है। प्रारम्भ में दूसरी गाथा में जीव का वर्णन किया था। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित ऐसा जीव वह स्वसमय है और वही जीव का सच्चा जीवत्व है। यहाँ चैतन्यभाव प्राणरूप जीवत्व कहकर जीवत्वशक्ति की पहिचान कराते हैं।

७- भाई, तू आत्मद्रव्य है.... तू सदैव चैतन्यप्राण को धारण करनेवाला है। उस चैतन्यप्राण से ही तेरा जीवत्व है। इस शरीर के संयोग से तेरा जीवत्व नहीं है, दस प्रकार के प्राणों द्वारा भी तेरा जीवत्व नहीं है, उनके बिना भी तेरा जीवत्व रह सकता है। शरीर के बिना, आयु आदि प्राणों के

बिना और राग के बिना भी तेरा जीवत्व बना रहा—ऐसी तेरी अचिंत्य जीवत्वशक्ति है। जीवत्वशक्ति ऐसी है कि—सदैव चैतन्यभाव को धारण करती है। चैतन्यभावप्राणों का कभी किसी से घात नहीं हो सकता। ऐसे चैतन्यप्राणरूप जीवत्व को जिसने पहिचाना, उसने सच्चा जीवन बिताया.... उसने अंतर चैतन्य-निधान प्राप्त किया।

८- अहा, संतों ने चैतन्यनिधान खोल दिया हैं; अब कौन-सा भव्य जीव ऐसे चैतन्यनिधान को नहीं लेगा? बाह्य निधानों को तृणवत् तुच्छ मानकर, उन्हें छोड़कर ऐसे चैतन्यनिधान को कौन अंगीकार नहीं करेगा? ऋषभदेव भगवान की स्तुति करते हुए पद्मनन्दि मुनिराज कहते हैं कि—अहा नाथ! केवलज्ञान प्राप्त करके दिव्यध्वनि द्वारा आपने चैतन्य के निधान खोलकर हमें बतलाये; जगत के समक्ष आपने चैतन्यनिधान खोलकर रख दिये... तो अब कौन बुद्धिमान भव्यात्मा है जो राज्यादि वैभव को तुच्छ तृण समान समझकर नहीं छोड़ेगा? कौन ऐसे चैतन्यनिधान को छोड़कर बाह्य वैभव का आदर करेगा? प्रभो! आपके बतलाये हुए चैतन्यनिधान को जानने से उस ओर उन्मुखता होती है; चैतन्यनिधान की महत्ता के निकट सारे जगत का वैभव तुच्छ भासित होता है।

९- जिसे स्वतंत्र होना हो, सुखी होना हो, उसे सुखधाम ऐसे आत्मतत्त्व को जानना चाहिये। आत्मा स्वयं ही सुख का धाम है, क्योंकि उसमें सुखशक्ति है। सुख आदि अनंत शक्तियों का धारण करनेवाला आत्मा है; उसकी शक्तियों का यह वर्णन है।

१०- दस प्राणों से जीवित रहना, वह व्यापार-जीवत्व है; वह वास्तव में आत्मा का स्वभाव नहीं है; व्यवहार-जीवत्व जितना आत्मा नहीं है। आत्मा तो चैतन्यप्राणों से त्रिकाल जीनेवाला है, वही उसका सच्चा जीवत्व है। राग से आत्मा को लाभ मानना तो आत्मा को रागमय मानकर उसके चैतन्य जीवन का घात करने जैसा है। और, चैतन्यस्वभावरूप जीवत्व को जो जानता है, वह धर्मात्मा चैतन्यमय जीवन जीता है और राग को नष्ट कर देता है। ऐसा जीवन ही सच्चा जीवन है। नेमिनाथ भगवान की स्तुति में कहते हैं कि—

तारुं जीवन खरुं तारुं जीवन....
जीवी जाण्युं नेमनाथे जीवन....

—कैसा जीवन?—कि चिदानन्दस्वभाव के सन्मुख होकर ज्ञान-आनन्दमय वीतरागी जीवन; वही सच्चा जीवन है और वही प्रशंसनीय है। भगवंत ऐसा जीवन जीते हैं, और प्रत्येक आत्मा में ऐसे जीवत्व की शक्ति है। (क्रमशः)

अपने आत्मा को मोक्षमार्ग पर स्थापित कर!

जो जीव मोक्षार्थी है, मोक्ष का इच्छुक है, ऐसे सुपात्र भव्य जीव को सम्बोधित करते हुए आचार्यदेव आदेश देते हैं कि—हे भव्य! तू अपने आत्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग में स्थापित कर!

[आश्विन शुक्ला पंचमी के दिन अफ्रीका वाले सेठ श्री भगवानजीभाई के मकान वास्तुप्रसंग पर पूज्य गुरुदेव के भावभीने प्रवचन से]

(समयसार गाथा-४१२)

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु॥४१२॥

हे भव्य! तू मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसी को चेत-अनुभव कर और उसी में निरन्तर विहार कर; अन्य द्रव्यों में न विहर।

देखो, आचार्यदेव सुपात्र मोक्षार्थी जीव को आज्ञा देकर मोक्षमार्ग में प्रेरित करते हैं। मोक्षार्थी जीव को क्या करना चाहिये? तो कहते हैं कि—देहादि का और रागादि का ममत्व छोड़कर अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित करना चाहिये। हे जीव! अनादि से बंधमार्ग में आत्मा को स्थापित कर रखा है, वहाँ से हटाकर अब अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित कर।

आचार्य भगवान ने अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित किया है; स्वयं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणमित होकर मोक्षमार्ग में आत्मा को स्थापित किया है और दूसरे मोक्षार्थी को संबोधित करके कहते हैं कि हे भव्य! तू अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित कर। 'अनादिकाल से अपने अज्ञान-दोष के कारण विकार में ही स्थित रहा है तो अब मोक्षमार्ग में स्थिति कैसे हो?'—ऐसा किसी को संदेह हो तो आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य! तू आकुलित न हो! अपनी प्रज्ञा के दोष के कारण अनादि से विकार में स्थित होने पर भी अब भेदज्ञान द्वारा उससे आत्मा को विमुख करके मोक्षमार्ग में स्थिर किया जा सकता है; इसलिये हम कहते हैं कि हे भव्य! अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा अर्थात् भेदज्ञान के बल द्वारा तू अपने आत्मा को विकार से विमुख करके मोक्षमार्ग में स्थापित कर।

आचार्यदेव अनेकानेक प्रकार से भेदज्ञान का बल समझाकर २८वें कलश में कहते हैं कि—अहा! हमने ऐसी स्पष्ट जीव-अजीव की भिन्नता बतलाई, तो अब किस जीव को तत्क्षण ही भेदज्ञान नहीं होगा? अब तो अवश्य भेदज्ञान होगा ही! इसलिये हे भव्य! अब प्रसन्न होकर ऐसे भेदज्ञान के बल द्वारा तू अपने आत्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में परिणमित कर।

देखो, यहाँ 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम को तू आत्मोन्मुख कर'—ऐसा कहने के बदले, 'अपने आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थापित कर'—ऐसा कहा है; इसलिये रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को परिणमित करके उसी में स्थापित कर। पहले दूसरी गाथा में कहा था कि 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र में जो स्थित है, वह स्वसमय है;'—उसी का यह उपदेश है।

हे भाई! तू अभी तक परोन्मुख था, अब तू स्वोन्मुख हो! पर में भी तू अपने ही अपराध से उन्मुख हुआ था, और अब स्व में भी तू अपने गुण से ही (-भेदज्ञान के बल से ही) उन्मुख हो।

'जो स्वरूप समझे बिना, पाया दुःख अनंत,'

—देखो, यह स्वरूप की नासमझ (अज्ञानता) वह बन्धमार्ग है।

और—

'समझाया वह पद नमूँ, श्री सद्गुरु भगवंत।'

गुरु उपदेश के अनुसार स्वयं अपने स्वरूप को समझा, वह मोक्षपंथ है। संसार में परिभ्रमण किया वह अपने दोष के कारण। दोष कितना?—तो कहते हैं कि परद्रव्य को अपना माना उतना। स्व-पर के भेदज्ञानरूप प्रज्ञागुण द्वारा जीव स्वयं ही अपने को बंधमार्ग से विमुख करके मोक्षमार्ग में स्थापित करता है। अनादि से बंधमार्ग में स्थित होने पर भी जीव उससे विमुख हो सकता है, और कभी जिसका अनुभव नहीं किया, ऐसे मोक्षमार्ग में अपने को स्थापित कर सकता है। इसलिये हे भाई! एकबार तो जगत से भिन्न होकर आत्मा में आ! एकबार तो संसार का पड़ोसी बनकर अंतर में आत्मा को देख! तुझे किसी अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा।

हे भव्य! एकबार अंतरोन्मुख हो जा.... और दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निजगृह में ही अपने आत्मा को बसा! अपने आत्मा को निरंतर रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में ही स्थापित कर। दूसरी सब चिन्ताओं को दूर करके एक अपने चिदानन्दस्वरूप को ही ध्येय बनाकर उसी को ध्या। सारे जगत से उदास हो जा और एक आत्मा के मोक्षमार्ग में ही उत्साहित होकर उसी में आत्मा को स्थापित कर.... उसी का ध्यान कर... अपने आत्मा को स्वतंत्ररूप से ही तू मोक्षमार्ग में स्थापित कर... अन्य

किसी का उसमें सहारा नहीं है। राग को एकमेक करके अपने आत्मा को न ध्या, किन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्यायों में एकमेक करके अपने आत्मा को ध्या। इसप्रकार आत्मा को निर्मल पर्याय के साथ अभेद करके कहा है।

अहा, आचार्यदेव कहते हैं कि—हे भव्य! मैंने आत्मा को मोक्षमार्ग में परिणमित किया है और तू भी अपने आत्मा को उसी में परिणमित कर! पाँचवीं गाथा में भी कहा था कि मैं अपने समस्त निज वैभव से—आत्मवैभव से शुद्ध आत्मा का स्वरूप दर्शाता हूँ और तुम अपने स्वानुभव-प्रमाण से जानकर उसे प्रमाण करना।—शिष्य की इतनी योग्यता देखकर ही आचार्यदेव ने यह बात कही है।

यहाँ तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही स्वद्रव्य कहा है, और उसमें जो स्थित है, उसे 'स्वसमय' कहा है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह ज्ञानचेतना है, उस ज्ञानचेतनारूप होकर तू मोक्षमार्ग को चेत, उसका अनुभव कर.... राग का अनुभव न कर। आत्मा के स्वभाव का आश्रय करने से जो निर्मल परिणाम होता है, उसी में तू विहर.... परद्रव्याश्रित होनेवाले ऐसे रागादि परिणामों में तू किंचित् विहार न कर.... यही मोक्ष का पंथ है।

—इसप्रकार आचार्य भगवान ने भव्य जीवों के लिये यह मोक्षमार्ग बतलाकर उसकी प्रेरणा की है।

ज्ञानी का निश्चय

'छेदाव, वा भेदाव, को लई जाव, नष्ट बनो भले,
वा अन्य को रीत जाव, पण परिग्रह नथी मारो खरे।'

(-समयसार गाथा २०९)

परद्रव्य का छेदन हो अथवा भेदन हो, अथवा कोई उसे ले जाये, या वह नष्ट हो जाय, अथवा किसी भी प्रकार चली जाये; तथापि मैं परद्रव्य को ग्रहण नहीं करूँगा; क्योंकि—'परद्रव्य मेरा स्व नहीं है; मैं परद्रव्य का स्वामी नहीं हूँ, परद्रव्य ही परद्रव्य का स्व है—परद्रव्य ही परद्रव्य का स्वामी है—मैं ही अपना स्वामी हूँ'—ऐसा मैं जानता हूँ।—इसप्रकार ज्ञानी का निश्चय है।

प्रतीति के प्रताप से परमात्मा

प्रतीति के अभाव से परिभ्रमण

(१) आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसके ज्ञान में सर्वज्ञ होने की शक्ति है।

(२) ज्ञान स्वयं जब तक ऐसे परिपूर्ण सामर्थ्य की प्रतीति न करे, तब तक आत्मा की सम्यक् प्रतीति नहीं होती।

(३) 'मैं ज्ञानस्वभाव हूँ'—ऐसी प्रतीति के प्रताप से आत्मा उसे सर्वज्ञ होता है और उस प्रतीति के अभाव से आत्मा संसार में भटकता है।

(४) 'मैं ज्ञानस्वभाव हूँ'—ऐसी प्रतीति करके जब आत्मा उसे ध्याता है, अर्थात् ध्यान में उस ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप से ग्रहण करके उसमें तन्मयरूप से लीन होता है, तब तुरन्त ही परम आनन्दमय केवलज्ञान प्रगट होता है।

(५) वे केवलज्ञानी भगवान सम्पूर्ण अतीन्द्रिय हुए हैं; उनको इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध का अभाव हो जाने के कारण इन्द्रियों से पार हैं।

(६) सर्वज्ञ का ज्ञान सर्व आत्मप्रदेशों में सोलह कलाओं से विकसित हो गया है, कोई आवरण उसे नहीं रहा, जो किसी भी ज्ञेय को जानने में बाधक हो। वे निर्विघ्न विकसित निजशक्ति से सर्व ज्ञेयों को एक साथ प्रत्यक्ष जानते हैं।

(७) ज्ञान की भाँति भगवान के सुख के विषय में भी इसीप्रकार समझ लेना चाहिये। अतीन्द्रिय हो जानेवाले सर्वज्ञ भगवान भोजनादि इन्द्रिय विषयों के बिना ही अपने अतीन्द्रिय परमसुख का अनुभव करते हैं। सुख के अनुभव में विघ्न करनेवाला कोई कर्म उनको नहीं रहा; वे स्वाधीनरूप से ही पूर्ण सुखस्वरूप परिणमित हो गये हैं, इसलिये अपने सुख के लिये उन स्वयंभू-परमात्मा को किन्हीं अन्य विषयों की अपेक्षा नहीं है।

(८) **सर्वज्ञता की प्रतीति का ऐसा प्रताप है कि वह प्रतीति करते हुए स्वोन्मुखता एवं आत्मप्रतीति हो जाती है.... और सम्यग्दर्शन होता है। उस प्रतीति का प्रताप उसे अल्पकाल में सर्वज्ञ परमात्मा बना देता है।**

(९) सर्वज्ञ की प्रतीति के अभाव में आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव को भूलकर, रागादि विभावों का ही कर्ता होकर संसार में भटकता है।

(१०) इसप्रकार प्रतीति के प्रताप से परमात्मा हुआ जाता है और प्रतीति के अभाव में परिभ्रमण होता है।

—इसलिये हे जीवो! सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की प्रतीति करो... और उसकी अचिंत्य महिमा जानकर उसमें स्थिर होओ.... ऐसा श्री संतों का उपदेश है।

सूचना

समयसार प्रवचन प्रथम भाग

का द्वितीय संस्करण छपकर तैयार हो गया है, बाइंडिंग हो रही है, शीघ्र ही तैयार होने की सूचना दी जावेगी। —प्रकाशक

श्री कानजी स्वामी जयन्ती समारोह समिति, इन्दौर

इन्दौर में दिगम्बर जैन समाज द्वारा आध्यात्मिक संत पूज्य श्री कानजी स्वामी का ७२ वाँ जन्म दिवस महान समारोहपूर्वक, अपूर्व उल्लास के साथ तारीख १६ व १७ अप्रैल १९६१ को अभिषेक, शांतिधारा, पंचकल्याण विधान, सामूहिक भक्ति, तत्त्वचर्चा, महिला सभा आदि कार्यक्रमों सहित मनाया गया, मध्यप्रदेश के वित्त मन्त्री माननीय श्री मिश्रीलालजी गंगवाल की अध्यक्षता में एक विशाल आम सभा आयोजित की गई जिसमें श्री इन्दौरीलालजी बड़जात्या एडवोकेट, पं० नाथूलालजी शास्त्री, श्री कोमलचन्दजी जैन एडवोकेट, श्री ईश्वरचन्दजी जैन सम्पादक जागरण, श्री बाबूलालजी पाटोदी सदस्य म० प्र० विधान सभा, श्री फूलचन्दजी जैन उपाध्यक्ष मुमुक्षु मण्डल इन्दौर के वन्दनीय श्री कानजी स्वामी के संबंध में स्वयं के अनुभव तथा उनके सद्गुणों संबंधी भाषण हुए, जिनमें यह भावना व्यक्त की गई कि परम पूज्य संत प्रवर श्री

कानजी स्वामी ने जो निमित्त-उपादान, शुभ, अशुभ, शुद्ध अशुद्ध तथा पुण्य पाप के अर्थों को अपने प्रवचनों द्वारा निरपेक्ष वर्णन करके युगों से चली आ रही हमारी मान्यताओं में आर्ष ग्रन्थों के आधार पर तथा उनके अनुकूल जो आमूल परिवर्तन कर हमें सन्मार्ग पर लगा दिया है, इसके आभार तथा प्रतीक स्वरूप हम यह जयन्ती मना रहे हैं, उपरान्तु कुमारी उषा जैन तथा श्री बसन्तीलालजी जैन ने स्व निर्मित अपनी कविताएँ पढ़कर अपनी श्रद्धा व्यक्त की, इसी बीच पूज्य श्री कानजी स्वामी के सम्मेदशिखर यात्रा के इन्दौर में दिये गये प्रवचनों के टेप रिकार्ड भी सुनाये गये, जिन्हें सुनकर बड़ी प्रभावना हुई, अंत में अपूर्व श्रद्धा पूर्वक इन्दौर दिगम्बर जैन समाज द्वारा शुभकामना का प्रस्ताव तथा उसी दिन प्रातः काल ही धर्म मार्ग प्रशस्ति हेतु दीर्घायु कामना का तार परम पूज्य श्री कानजी स्वामी के श्रीचरणों में प्रेषित किया गया।

★

प्रस्ताव

संसार के दुःख रूपी समुद्र में डूबते हुए प्राणियों को उद्धार का मार्ग बतानेवाले प्राचीन आचार्यों की आध्यात्मवाणी के सफल प्रसारक महान प्रभावशाली प्रसिद्ध आध्यात्मिक संत श्री कानजी स्वामी की आज ७२वीं वर्षगाँठ है।

आज से आपका ७२वाँ वर्ष प्रारम्भ हो रहा है। स्वामीजी ने अपने आत्मधर्म के उपदेशों और प्रभाविक व्यक्तित्व द्वारा भारतवर्ष में ही नहीं, वरन अफ्रीका आदि में हजारों व्यक्तियों को सन्मार्ग प्रदर्शित किया है। आज सर्वत्र आत्मसम्बन्धी चर्चा व स्वाध्याय की ओर जनता का जो झुकाव दृष्टिगोचर हो रहा है, उसका श्रेय स्वामीजी को है। आपके इस मंगलमय जन्म दिवस पर इन्दौर दि० जैन महिला समाज की यह सभा पूज्य स्वामीजी की हृदय से दीर्घायु कामना करती है और उनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रगट करती हुई यह शुभ आकांक्षा करती है कि स्वामीजी के उपदेशों के प्रभाव से वर्तमान के भौतिक वातावरण से संत्रस्त जन समूह को तत्त्वदृष्टि प्राप्त हो और वह सुखी एवं शांतिपथ की अनुगामी बने।

दि० जैन महिला समाज

इन्दौर, ता० १७-४-६१

पूज्य स्वामीजी के प्रति श्रद्धांजलि

इन्दौर, ता० १७-४-१९६१

भारत में अध्यात्म की पवित्र गंगा प्रवाहित कर भौतिक वातावरण से क्षुब्ध एवं अशांत मानव-मन को शांति प्रदान करनेवाले जिनशासन प्रभावक प्रसिद्ध **आध्यात्मिक संत श्री कानजी स्वामी की ७२ वीं जन्मगाँठ** के अवसर पर इन्दौर का दिगम्बर जैन समाज स्वामीजी के प्रति अपनी श्रद्धा प्रगट करता हुआ उनके चिरायु होने की कामना करता है और जिनेन्द्र भगवान से प्रार्थना करता है कि वर्तमान अणु-युग में मानवता की रक्षा और विश्व-शांति की स्थापना में स्वामीजी सदृश महान संत के व्यक्तित्व एवं उपदेशों का सतत योगदान प्राप्त होता रहे।

ता० १७-४-६१

मिश्रीलाल गंगवाल
वित्त-मंत्री, मध्यप्रदेश

जिनशासन प्रभावक प्रसिद्ध आध्यात्मिक संत श्री कानजी स्वामी की ७२ वीं जन्मजयन्ती के अवसर पर

श्रद्धांजलि

गत साल के माफिक इस साल भी पूज्य स्वामीजी की जन्म-गांठ के उत्सव के उपलक्ष्य में सोनगढ़ में करीब हजारों की संख्या में तार व पत्र आये हैं। जिसमें पूज्य स्वामीजी के प्रति श्रद्धा-भक्ति व दीर्घायु हो आदि शुभेच्छा से भरे हुए हृदयोद्गार हैं। उन सभी का हम आभार मानते हैं।

इस साल में वैशाख सुद दोज के शुभदिन सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी की जन्म-गांठ उत्सव विशेष सुन्दर आयोजन सहित मनाया गया था। इस अवसर पर बाहर गाँव से बहुत संख्या में मुमुक्षुगण आये थे। सवेरे जिनमंदिर में बड़े ठाठ-बाट से जिनेन्द्र देव का पूजन भक्ति बाद स्वाध्याय मंदिर में पू० स्वामीजी का प्रवचन हुआ। बाद माननीय पण्डित श्री हिम्मतलालभाई तथा श्री नेमिदास खुशालचन्द (पोरबन्दर) ने पूज्य स्वामीजी के उत्तम गुणों व धर्म प्रभावना के वर्णन द्वारा अपनी श्रद्धा प्रगट की।

बाद मुमुक्षु महिला समाज ने भक्ति दर्शन मंगल कामना का काव्य सुनाया। बाद मुंबई, कलकत्ता, देहली, इन्दौर, अहमदाबाद, जमशेदपुर, राजकोट आदि अनेक गाँवों से आये हुए संदेश सुनाये। समस्त जैन समाज को प्रीति भोजन भी हुआ था। दोपहर में प्रवचन बाद जिनमंदिर में भक्ति का विशेष कार्यक्रम था।

नया प्रकाशन

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत

श्री नियमसारजी

(सेठी दि० जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित)

महान आध्यात्मिक भगवत शास्त्र, संस्कृत टीका सहित, जिसकी तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा काफी जोरों से माँग है, पूर्ण रूप से संशोधित, यह ग्रन्थ महान पवित्र तत्त्वज्ञान की अपूर्व निधि समान है। पृष्ठ संख्या ४१५ बड़े साइज में, कपड़े की सुन्दर मजबूत जिल्द मूल्य ५.००) मात्र, पोस्टेज अलग। थोक लेने पर कमीशन २५) सैं० देंगे। जिज्ञासुगण शीघ्र आर्डर भेजें।

मिलने का पता —

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म के ग्राहकों को नम्र सूचना

चैत्र मास में बारहमास का चन्दा समाप्त होता है। महँगाई के कारण ४ ॥) में लागत पड़ने पर भी घाटा उठाकर ३) (तीन रुपया) सालाना ही चन्दा रखा गया है। अतः मनीआर्डर द्वारा ३) रु० भेज देवें। वी०पी० करने में तेरह आने (८१, पैसा) व्यर्थ ही लग जाते हैं।

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
द्वितीय भाग	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।